कुमारसम्भवसार

महावीरप्रसाद द्विवेदी

कुमारसम्भवसार ।

अर्थात्

महाकवि-कालिदास-प्रणीत कुमारसम्भव के
प्रथम पांच सर्गों का पद्यात्मक
सारांश

अनुवादक
महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, प्रयाग

[तीयावृत्ति] १९१६ [मूल्य ।)

पहली आवृत्ति की भूमिका।

कालिदास के काव्यों में कुमारसम्भव का भी बड़ा आदर है। इसमें सब १७ सर्ग हैं, परन्तु पहले सात ही सर्गों के पठन-पाठन का अधिक प्रचार है। अष्टम सर्ग में कवि ने शङ्कर और पार्वती के शृङ्गारिक वर्णन की पराकाष्ठा कर दी है, यहां तक कि किसी किसी की समझ में अनेक स्थल अश्लीलता-दूषित हो गये हैं; शायद इसी कारण से सप्तम सर्ग तक ही इस काव्य के अनुशीलन की परिपाटी पड़ गई हो। कोई कोई यह भी कहते हैं कि आठही सर्ग कालिदास के बनाये हुए हैं; शेष नौ सर्ग किसी ने उसके नाम से बनाकर पीछे से जोड़ दिये हैं। इस सम्भावना का कारण वे यह बतलाते हैं कि यदि सत्रह सर्ग पर्यन्त कालिदासही की रचना होती तो इस काव्य का "तारकवध" अथवा इसी अर्थ का द्योतक और कोई ऐसाही नाम रक्खा जाता; "कुमारसम्भव" न रक्खा जाता; क्योंकि कुमार के द्वारा तारक का वध वर्णन करके सत्रहवें सर्ग की समाप्ति हुई है।

कुमारसम्भव की कथा कालिदास ने शिवपुराण से ली है। ऐसा करने में कवि ने कहीं कहीं शिवपुराण के श्लोकों के पूरे चरण के चरण वैसेही रख दिये हैं, पदयोजनाओं और भावों के ले लेने के प्रमाण तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक सभी कहीं विद्यमान हैं। दो चार उदाहरण लीजिए:—

शिवपुराण, तेरवां अध्याय।	कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग।
दिशः प्रसेदुः पवनः सुखं ववौ	प्रसन्नदिक् पांशुविविक्तवातं
शंखं निदध्मुर्गगनेऽचरास्तथा।	शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टिः।
पपात मौलौ कुसुमाञ्जलिस्तथा	शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां
बभूव तज्जन्मदिनं सुखप्रदम्॥	सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥

गिरिशमुपचचार प्रत्यह सा सुकेशी

चौदहवाँ अध्याय।

महासुरस्तारकाख्यस्त्वरः प्राप्तपराक्रमः।
सर्वलोकविनाशाय केतुराजि रवोत्थितः॥
एवमाराधितश्चापि स क्लिश्नाति जगत्त्रयम्।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः॥

पन्द्रहवाँ अध्याय।

असम्मतः कस्तवेन्द्र मुक्तिमार्गमपेक्षते।
तं सुन्दरीकटाक्षैस्तु बध्नाम्याज्ञापय प्रभो॥

सोलहवाँ अध्याय।

अपि क्रियार्थं सुलभं पुष्पवारिसमित्कुशम्
अपि देवि तपोमूर्त्ति स्वशक्त्या परिवर्तसे॥

गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः॥

द्वितीय सर्ग।

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः
इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः

तृतीय सर्ग।

असम्मतः कस्तव मुक्तिमार्गं
पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणा-
मारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः॥

पञ्चम सर्ग।

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं
जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥

कालिदास के विषय में हम एक पृथक् निबन्ध लिखना चाहते हैं; उसमें कालिदास की इस कृति का विशेष रूप से विचार करने की इच्छा है। अतः, यहाँ पर, हम और कुछ नहीं कहते।

इस काव्य के प्रथम पाँचही सर्ग सर्वोत्तम हैं। इस लिए हमने उन्हीं का अनुवाद किया है। बहुत कम अवकाश मिलने के कारण तृतीय और पञ्चम सर्ग का ही पूरा अनुवाद करके प्रथम, तृतीय और चतुर्थ सर्ग के अनुवाद में हमने मूल का आशय मात्र लिया है।

यह अनुवाद कलकत्ते के "भारतमित्र" में क्रमशः छपा था; अब इसे काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा पुस्तकाकार प्रकाशित करती है।

झाँसी,
१६ नवम्बर, १९०२

महावीरप्रसाद द्विवेदी

दूसरी आवृत्ति की भूमिका ।

इस पुस्तक की पहली आवृत्ति में छापे की अनेक भूलें रह गई थीं। छपाई भी अच्छी नहीं हुई थी। इससे इसकी यह दूसरी आवृत्ति, परिष्कृत रूप में, इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित की जाती है। आशा है, पाठक इस आवृत्ति को पहली की अपेक्षा अधिक पसन्द करेंगे।

जुही, कानपुर
२७ दिसम्बर, १९०७ } महावीरप्रसाद द्विवेदी

कुमारसम्भवसार ।

—०:○:०—

प्रथम सर्ग ।

१

दिव्य दिशा उत्तर में शोभित देवात्मा का अधिकारी,
भूधरपति अति पृथुल हिमालय हिममण्डितमस्तकधारी ।
पूर्व और पश्चिम पयोधि के बीच बढ़ा कर तनु भारी,
महीमाप के दण्ड तुल्य है रक्खा बहु विस्मयकारी ॥

२

रत्न और ओषधियाँ जिसमें चमक रहीं नित बहुतेरी,
नहीं न्यून उसकी शोभा को कर सकती हिम की ढेरी ।
चन्द्रबिम्ब के भीतर जैसे नहीं कलङ्क दिखाता है,
तैसेही गुणगण-समुद्र में एक दोष छिप जाता है ॥

३

शृङ्गों पर, अकाल-सन्ध्या-सम, धातु विचित्र बिछाता है,
उससे जो अप्सरावर्ग को भूषणयुक्त बनाता है ।
रश्मिराशि दिनकर की जिसके शिखरों पर छवि पाती है,
अधोभाग में मेघमण्डली जलधारा बरसाती है ॥

४

हिम-धोई महि में गज-मुक्ता देख जहाँ पर बिखराये,
कहते हैं किरात "गज-हन्ता सिंह इसी मारग आये" ।
बाँस-वृक्ष के छेदों में जो भर समीर न्यारी न्यारी,
गायक किन्नर-गण को देता मानों ताल परम प्यारी ॥

५

गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनङ्ग-देव-सन्देश,
विद्याधरसुन्दरी भेजती हैं प्रिय-पास विशेष विशेष।
जहाँ रात में विपनिवासी ओषधियाँ रख दीप-समान,
करते हैं, उनके प्रकाश में, केलिकला के विविध विधान

६

करि-कपोल-ताड़ित- सालद्रुम-दुग्ध-गन्ध की अधिकाई,
जिसकी शिखरमालिका को अति सुरभित करती, सुखदाई
जमे हुए शीतल हिम पर भी, जिस गिरि में, किन्नर नारी,
चलती हैं मन्दही लिये निज-कुच-नितम्ब-बोझा भारी॥

७

रवि के भय, उलूक सम, दिन में, अन्धकार जब आता है,
अपनी गुहा बीच रख, जो गिरि, उसके प्राण बचाता है
महा-नीच भी शरणागत को, जन महान वर-विज्ञानी,
अभय-दान देते हैं, तत्क्षण, कहते हुए मृदुल बानी॥

८

जिस पर्वत पर किन्नरबाला जब रतिसमर मचाती हैं,
वस्त्र खींचने से, लज्जावश, सकुच सकुच रह जाती हैं।
गुहाद्वार पर, अनायास, जब आँखें उनकी आती हैं,
लटके देख मेघ, परदे सम, सब सङ्कोच मिटाती हैं॥

९

सुरागाय अपनी पूँछों से जिस पर चमर चलाती हैं,
"है यह महीधरों का राजा—" यह मानों बतलाती हैं।
थके किरात जहाँ पाते हैं सुरसरि-कण-लानेवाला,
विमल वायु, जिसने की कम्पित देवदारु-तरुवर-माला॥

१०

जिसके उच्च-शिखर-गत-जल के कमलों को, नीचे रह कर,
नित्य ऊर्ध्वगामी किरणों से विकसित करता है दिनकर।

शक्ति देख जिसकी धरणी के धारण करने की अतितर,
यज्ञभाग, भूधरपति पद भी, विधि ने दिया जिसे सुखकर ॥

(११)

उसी हिमालय पर्वतपति ने विधिवत अपना किया विवाह,
पितरों की मानसी सुता शुचि मेना से, समेत उत्साह।
जिससे सुत मैनाक नाम का हुआ, पयोधि-मित्र, गुनवान,
नहीं काट जिसके पंखों को सका सुरेश महा बलवान ॥

१२

तदनन्तर, शङ्कर की पहली पत्नी सती नामवाली,
दक्षयज्ञ में जल कर जिसने भस्म देह निज कर डाली।
आई गर्भ-मध्य मेना के रूप-शील-गुण-उजियाली,
जिसके जन्मकाल में सारी हुईं दिशा शोभाशाली ॥

१३

स्थावर जङ्गम सबको, उसके होने से, सुख हुआ अनन्त,
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर माता अत्यन्त।
चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान,
चढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चाँदनी समान ॥

१४

नाम पार्वती, पर्वतकन्या होने से, उसने पाया,
"उ-मा" निषेध-वाक्य माता ने निज मुख से जो प्रगटाया।
"मत जा सुता तपस्या करने"— इस प्रकार कह समझाया,
उमा उमा कहने सब लागे, नाम दूसरा छविछाया ॥

१५

था यद्यपि सुत, किन्तु पिता की हुई वही बढ़ कर प्यारी,
सच है, आममञ्जरी ही पर प्रीति मधुपगण की भारी।
जैसे ज्योति दीप को, सुरसरि सुरपुर को शोभादायी,
तैसे हुई हिमाचल को वह कन्या उसके घर आई ॥

१६

नित खेलती गेंद-गुड़िया ले गंगा-तट को भी जाती,
बालू के घर रच रच, रहती क्रीड़ारस में वह माती।
हुई प्राप्त उसको, कुछ दिन में, पूर्वजन्म-विद्या सारी,
शरद्-समय सुरसरि को जैसे हंस-पंक्ति नभ-सञ्चारि

१७

बिना किये शृङ्गार, अंग में शोभा जिससे आती है,
मदिरा पिये बिना ही, जिससे मद-तरङ्ग चढ़ जाती है
बिना बाण का बाण काम का, विश्व-मनोमन्थनकारी,
वही युवापन उसे, समय पर, आया अद्भुत, बलिहा

१८

जैसे रङ्ग चित्र की दूनी छवि क्षण में दिखलाता है।
जैसे कमलकली की शोभा भानु विशेष बढ़ाता है।
तैसे नवयौवन ने उसके तन की सुन्दर सुघराई,
अङ्ग अङ्ग में दरसित करके, छटा अनूपम उपजाई॥

१९

महि को चरण अँगूठों से जब चलते समय दबाती थी,
नख-आभा के मिस वह मानों लाल रङ्ग टपकाती थी
उससे नूपुर-शब्द सीखने की इच्छा रखनेवाले,
हंसों ने क्या उसे सिखाये चलने के क्रम मतवाले?

२०

त्वचा मत्त करिवर के कर की अतिशय कर्कश होती है,
केले की आकृति को उसकी शीतलताई खोती है।
देखा गया न यद्यपि जग में इनका सा आकार कहीं,
उसकी जंघा के, ये दोनों, तदपि उचित उपमान नहीं

२१

अन्य कामिनी जिस गोदी तक पहुँची नहीं कभी भी भूल,
वहाँ जिसे, पीछे से, शिव ने सुख से धारण किया सम

विश्व-विजयिनी उस बाला की कटि का पिछला भाग महान,
था कैसा कमनीय, कीजिए इससे ही उसका अनुमान ॥

२२

उसकी कटि-करधनी-मध्यगत-नीलम के आभास समान,
रोमावली हुई अति शोभित, नाभी तक बढ़ाय परिमाण।
त्रिवली रुचिर, उदर ऊपर, उस कृशोदरी ने धरी नवीन,
यौवन चढ़ने को मनोज ने दी मानों सीढ़ी स्वाधीन ॥

२३

उस सरोजनयनी के दोनों सटे हुए कुच कलशाकार,
एक दूसरे से लग लग कर, दुख देते थे बारंबार।
काले मुखवाले वे गोरे बढ़ कर इतने हुए विशेष,
नहीं मृणाल-तन्तु भी उनके बीच कभी कर सका प्रवेश ॥

२४

फूलों ही के काम बाण हैं, यह सब सुनते आते हैं,
सिरस फूल से भी मृदुतर हम उसके बाहु बताते हैं।
क्योंकि पराजय पाने पर भी, जब बल अपना संभाला,
रतिपति ने श्रीकण्ठ-कण्ठ में यही बाहुबन्धन डाला ॥

२५

पयोधरों से उन्नत उसका कण्ठ और मुक्तामाला,
एक दूसरे की शोभा का हुआ नित्य देनेवाला।
कभी नहीं होती इकठौरी शशि-सरोज-सुन्दरताई,
किन्तु उमा के मुख में निज निज दोनों ने छवि दिखलाई ॥

(२६)

फूल नवल पल्लव पर रहता, विद्रुम ऊपर जो मोती,
उसकी सित मुसकानि अधरयुत तो इनके समान होती।
मृदु-भाषण में जब वह मुख से सुधा-सलिल बरसाती थी,
कोकिल-कूक, विषम-वीणा-सम, कानों को न सुहाती थी ॥

२७

वायु-वेग से कम्पित सुन्दर नील कमल की छवि-हारी,
उस विशालनयनी की चञ्चल चितवनि की मैं बलिहारी
ऐसी चपल दृष्टि क्या उसने मृग-किशोरियों से पाई,
अथवा मृगकिशोरियों ही को उसे स्वयं वह दे आई ?

२८

उसकी देख विलासशील अति भव्य भौंह काली काली,
तजी काम ने निज-धनु विषयक बातें सब घमण्डवाली।
पशु लज्जा रखते यदि, तो कब देख उमा के अति प्यारे,
चमरी गाय शिथिल करती निज केश-प्रेम-बन्धन सारे ?

२९

चन्द्र, कमल, अधिक सब उपमा देने योग्य वस्तु-समुदाय,
जिसे जहाँ था उचित वहाँ ही रख ब्रह्मा ने चित्त लगाय
साथ देखने की इच्छा से मानो विश्व-सुघरता-सार,
रचा उसे अत्यन्त यत्न से रूपराशि शोभा-आगार ॥

३०

एक बार नारद मुनि उसको बैठी देख पिता के पास,
बोले-"हर-प्रिया यह होगी, कर आधे शरीर में वास"।
इससे, उसके लिए पिता ने की न और वर की अभिलाष,
अग्नि विहाय, नहीं पाते हे, शुद्ध हव्य को अन्य प्रकाश

३१

उसके पाने की महेश ने इच्छा किन्तु न दरसाई,
इसी लिए, कर सका न गिरिवर बात ब्याह की मनभाई
इष्ट कार्य्य में भी सज्जन जन चुप-अवलम्बन करते हैं,
वचन-भङ्ग होने के भय से, मन में अति वे डरते हैं ॥

३२

जब से पूर्व जन्म में गिरिजा जली तभी से बैरागी,
हुए महेश बिना पत्नी के, विषय-वासना भी त्यागी।

गये हिमालय की उस चोटी ऊपर तप करने भारी,
मृग-कस्तूरी से सुरभित है जिसकी वनस्थली सारी ॥

३२

कुसुमकली के कुण्डल पहने, भूर्ज-वृक्ष की कोमल छाल,
बैठे शिलातलों पर नन्दी भृङ्गी आदिक प्रमथ विशाल।
बर्फ़ खोदते हुए खुरों से वृषभराज ने बारंबार,
असहनीय सिंहध्वनि सुन कर, किया भयङ्कर शब्द अपार॥

३३

जिससे स्वयं सदा पाते हैं तप के फल, जन अनुरागी,
वही ईश निज आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति आगी।
रख सम्मुख, प्रज्वलित उसे कर छोड़ काम सब संसारी,
किसी अपूर्व कामना के वश, बने तपश्चर्याकारी ॥

३४

इसी समय, दो सखी साथ दे, शैलराज ने निज कन्या,
शिव-सेवा करने को भेजी, रूप-राशि गुणगण-धन्या।
यदपि विघ्नकर थी वह तप की, तदपि शम्भु ने स्वीकारी,
ऐसे में भी, मन जिनके वश, सच्चे वही धीरधारी॥

३५

वेदी सदा स्वच्छ करती थी; फूल तोड़ने जाती थी;
जल पूजन के लिए, तथा कुश, प्रेम सहित ले आती थी।
इस प्रकार शङ्कर की सेवा कर, वह उन्हें लुभाती थी;
उनके भाल-चन्द्र की किरणों से श्रम सकल मिटाती थी॥

इति प्रथम सर्ग।

—:o:—

द्वितीय सर्ग ।

१

उस समय महा बलवान निशाचर तारक,
त्रैलोक्य जीत कर, हुआ देवसंहारक।
भयभीत अमरगण किये इन्द्र को आगे,
इसलिए पितामह पास गये सब भागे ॥

२

जब उन मलीन-मुख-युक्त सुरों के सम्मुख,
वे हुए प्रकट, कर कृपा, कृपालु चतुर्मुख
रच रुचिर पद्य इस भाँति, भक्तिरस साने,
तब, शीश नाय, सुर लगे ब्रह्मगुण गाने

३

थे सृष्टि आदि में तुम्हीं अकेले स्वामी !
कर जोड़, भक्तियुत, तुम्हें नाथ ! प्रणामी
रज, सत्व, तमोमय भेद, अनन्तर, तीन,
कर, भिन्न भिन्न त्रयमूर्ति हुए, स्वाधीन ॥

४

जल-बीच, प्रथम, निज बीज तुम्हीं ने डाला,
अतएव तुम्हीं से हुआ चराचर-जाला ।
विधि, विष्णु, रुद्र आकार, यथाक्रम, धारी,
उत्पादक, पालक तुम्हीं, तुम्हीं संहारी ॥

५

तुमने ही जनविस्तार-हेत असुरारी !
निज तन के हैं दो भाग किये नर-नारी ।
जब सोते हो तुम नाथ ! प्रलय होती है;
जगते हो जब, तब सृष्टि बीज बोती है ॥

६

तुम जगन्मूल तव मूल न जगदाधारा !
जगदन्तक तुम भगवन्त ! न अन्त तुम्हारा ।
जगदादि तुम्हीं, तव आदि नहीं है धाता !
जगदीश तुम्हीं हो ईश न तव दिखलाता ॥

७

तुम अपने को लोकेश ! आपही जानो;
रच अपने ही से आत्मरूप सुख मानो ।
फिर अपने ही में आप लीन हो जाते;
यह विश्व चराचर नाथ ! तुम्हीं प्रकटाते ॥

८

हो स्थूल, सूक्ष्म, द्रव, कठिन, तुम्हीं निःशेष,
लघु, गुरु भी कारण, कार्य तथा विश्वेश !
जिन श्रुतियों का फल स्वर्ग महा सुखकारी,
उत्पन्न हुईं वे नाथ ! तुम्हीं से सारी ॥

९

भुवनेश ! सांख्य की प्रकृति तुम्हीं कहलाते,
तत्त्वज्ञ तुम्हीं को पुरुष पुरातन गाते ।
तुम देवों के भी देव सर्वगुण-खानी,
तुम ब्रह्मा से भी बड़े ब्रह्म-विज्ञानी ॥

१०

सुन ऐसी स्तुति कमनीय, रुचिर, हृदयङ्गम,
प्रमुदित हो, विधि ने कहे वचन यों मृदुतम ।
सुस्वागत हे सुरवर्ग ! कहो क्यों आये ?
क्या समाचार सब आज साथही लाये ?

११

हिम पड़ने से छविहीन यथा नभ तारे,
मुख-सरसिज ये क्यों हुए मलीन तुम्हारे ?

क्यों कुण्ठित सा यह कुलिश देवपतिवाल
दिखलाता इसमें नहीं अग्नि की ज्वाल

१२

हतवीर्य मन्त्र से सर्प यथा हो जाता,
क्यों पाश वरुण का कहो दीन दिखलाता
वे-गदा धनद के बाहु दण्ड-आकारी
हैं कह से मानो रहे पराभव भारी ॥

१३

निस्तेज दण्ड से खींच भूमि पर रेखा,
हैं लगा रहे यमराज कहो क्या लेखा ?
क्यों हुए द्वादशादित्य उष्णता-हीन ?
सब चित्र लिखे से खड़े प्रतापक्षीण ॥

१४

क्या वायुवेग हे देव ! हो गया भङ्ग ?
जो शिथिलित उसके सर्व अङ्ग प्रत्यङ्ग !
क्या उदक-ओघ रुक गया ? कहो सुरराज !
जो उलटा बहने लगा अहो वह आज !

१५

क्यों तुम एकादश रुद्र ! अधोमुख सारे ?
हैं गये कहाँ हुङ्कार कठोर तुम्हारे ?
क्या तुमसे भी बलवान देवगण ! कोई ?
जिसने तुम सब की आज प्रतिष्ठा खोई ॥

१६

क्या चहते हो ? हे वत्स ! कथा अब सारी
कह करके, शङ्का हरो समूल हमारी ।
तब दृग-सहस्र गुरु ओर इन्द्र ने फेरे,
कमलाकर मानो मन्द पवन के प्रेरे ॥

१७

जलआसन सम्मुख हाथ जोड़, तदनन्तर,
वाचस्पति बोले वचन युक्तियुत, सुन्दर।
हे अन्तर्यामी नाथ! सकल-उरवासी!
क्यों छाई सुरगण मध्य अखण्ड-उदासी॥

१८

सो भगवन्! तुमने ठीक ठीक सब जाना,
छिन गया देव-अधिकार, मान, सम्माना।
तुमसे वर ईप्सित पाय, महाऽसुर तारक
है धूमकेतु सम उदित उपद्रवकारक॥

१९

रवि उसके पुर में नित्य तपै उतनाहीं,
जितने से वापी-कमल-फूल खिल जाहीं।
शशि अपनी सारी कला उसे देता है;
शिवभाली केवल एक नहीं लेता है॥

२०

उसकी न वाटिका-बीच वायु जाता है,
तत्पुष्पचौर्य से त्रास सदा पाता है।
इतना ही उसके पास नित्य आता है,
बस पङ्खा जितना मन्द मन्द लाता है॥

२१

क्रम छोड़, फूल की लिये मनोहर डाली,
सारे ऋतु उसके यहाँ हुए हैं माली।
उस असुरराज के [illegible] रत्न रुचिराकृति
देता है जल से ढूँढ ढूँढ सरितापति॥

२२

सब वासुकि आदिक सर्प शिखा-मणि-धारी
बनते हैं उसके दीप महा-द्युतिकारी।

नित कल्पद्रुम के फूल भेज अमरेश
कहते हैं उसकी कृपा-कोर का लेश।

२३

वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है;
भुवनत्रय उससे त्रस्त नाथ ! रोता है
उपकार न खल को कभी शान्त करता है;
अपकार-मात्र तद्गर्व सर्व हरता है॥

२४

दल लेकर जिसके हुईं मुदित सुरबाला,
नन्दन वन उसने वही काट सब डाला
नयनाश्रुधार-संसिक्त-चमर करधारी
करती हैं उस पर पवन अमरपुरनारी

२५

उसने उखाड़ कर मेरु-शिखर मन-भाये,
निज घर में क्रीड़ाशैल अनेक बनाये।
सुरसरि में दिग्गज*दान-मलिन जलही भर
कञ्चन-कमलालय हुए तदीय सरोवर

२६

उसके भय वीथी बन्द, सभी डरता है,
सुरवृन्द घरों में पड़ा सड़ा करता है।
जो कोई मख में हव्य हमें देता है,
सम्मुख ही वह शठ उसे छीन लेता है॥

२७

सुरपति का उच्चैःश्रवा अश्ववर, सो भी,
ले गया असुर वह, नीच, निरंकुश लोभी

---

* दान—मद

ज्यों सन्निपात में सब ओषधियाँ व्यर्थ ;
त्यों तद्विनाश में नाथ ! देव असमर्थ ॥

२८

हरि-चक्र न कुछ कर सका, कहें क्या क्या हम,
उलटा वह उसका हुआ कण्ठभूषण सम ।
ऐरावन-विजयी द्विरद मत्त उसके सब
मेघों से टक्कर मार, खेलते हैं अब ॥

२९

तन्नाश-हेत हे नाथ ! एक सेनानी
हम चहते हैं अति शूर, वीर, बलमानी ।
जिसको कर आगे, इन्द्र, विजयमाला वर,
बन्दीधन लावें छीन शत्रु से जाकर ॥

३०

वाचस्पति की निःशेष हुई जब वानी,
विधि बोले, गर्जन-अन्त पड़े ज्यों पानी ।
हे देव ! तुम्हारा काम सफल सब भाँती ;
पर स्वयं रचूँगा मैं न तारकाराती ॥

३१

यह उसे हमीं से मिला विभव-विस्तारा ;
फिर, कैसे उसका करें हमीं संहारा ?
विष-पादप भी यदि बड़ा किया जाता है ;
उस पर भी नहीं कुठार दिया जाता है ॥

३२

उसने तप अतिशय घोर किया मनमाना ;
मुँहमाँगा हमने दिया उसे वरदाना ।
अतएव, छोड़ शिव-अंश, अन्य बलवाना,
सह सकता उसका नहीं एक भी बाना ॥

३३

वे परम ज्योतिमय देव तमोगुण-हीन ;
जानें गति उनकी विष्णु और हम भी न ।
उनका मन तप में लीन, उमा के द्वारा,
तुम खींचो, खींचे * अयस्कान्त ज्यों † सारा

३४

तेजोमय शिव का बीज रिपुक्षय कारण,
कर सकती केवल एक उमा ही धारण ।
तत्सुत बन सेनाधीश बलिष्ठ तुम्हारा,
खोलेगा बन्दी-देववधू-कच-भारा ॥

३५

इस भाँति, इधर, कह, हुए लोप लोकेश;
सुर गये, उधर, सुरलोक, सहित देवेश ।
सुरपति ने जाके वहाँ, बिदा कर सुरगण,
मन ही मन चिन्तन किया काम का तत्क्षण ॥

३६

रम्य रमणी की अति ही बाँकी भृकुटी-लता समान,
तिकङ्कण-अङ्कित स्वकण्ठ में सज्जित कर, सौन्दर्य-नि
वसन्त-हाथ में देकर आममञ्जरी-रूपी बाण,
या, तब, सम्मुख सुरेश के, प्रणत पुष्पधन्वा ब...

इति द्वितीय सर्ग ।

—:०:—

---

* अयस्कांत—चुम्बक ।

† सार—लोहा ।

तृतीय सर्ग *

१

सारे देववृन्द से खिँच कर देवराज के नयन हज़ार,
काम‌देव पर बड़े चाव से आकर पड़े एक ही बार।
अपने सब सेवक-समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार,
प्रायः घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार॥

२

"सुख से बैठो यहाँ मनोभव!"—इस प्रकार कर वचन-विकास,
आसन रुचिर दिया सुरपति ने अपने ही सिंहासन पास।
स्वामी की इस अनुकम्पा का अभिनन्दन कर शीश झुकाय,
रतिनायक, इस भाँति, इन्द्र से बोला उसे अकेला पाय॥

३

सब के मन की बात जानने में अति निपुण! प्रभो! देवेश!
विश्व-बीच कर्तव्य कर्म तव क्या है, मुझे होय आदेश।
करके मेरा स्मरण, अनुग्रह दिखलाया है जो यह आज
उसे अधिक करिए आज्ञा से—यही चाहता हूँ सुरराज!

४

इन्द्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझ में—मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच-कुसुमसायक-धारी,
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज-आज्ञाकारी॥

५

जन्म-जरा-मरणादि दुःख से होकर दुखी कौन ज्ञानी
तव सम्मति-प्रतिकूल गया है मुक्तिमार्ग में अभिमानी?

---

* इस सर्ग की कथा बहुत ही मनोहर है; इसलिए, इसका पूरा अनुवाद किया गया है।

भृकुटी कुटिल कटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुरबाला,
बाँध डाल रक्खें; वैसे ही पड़ा रहे वह चिरकाला॥

६

नीति शुक्र से पढ़ा हुआ भी है यदि कोई अरि तेरा :
पहुँचे अभी पास उसके झट दूत रागरूपी मेरा।
जल का ओघ नदी तट दोनों पीड़ित करता है जैसे;
धर्म्म, अर्थ—दोनों ही उसके पीड़न करूँ, कहो तैसे॥

७

महापतिव्रतधर्म्मधारिणी किस * नितम्बिनी ने अमरेश!
निज चारुता दिखा कर तेरे चञ्चल चित में किया प्रवेश
क्या तू यह इच्छा रखता है, कि वह तोड़ लज्जा का जाल
तेरे कण्ठदेश में डाले आकर अपने बाहु-मृणाल ?

८

समझ सुरत-अपराध, कोप कर, किस तरुणी ने हे कामी!
तुझे तिरस्कृत किया, हुआ तब शीस यदपि तत्पदगामी
मम ताप से व्याकुल होकर वह मन में अति पछतावे;
पड़ी रहे पल्लवशय्या पर, किये हुए का फल पावे॥

९

मुदित हूजिए वीर! वज्र तव करे अखण्डित अब विश्राम;
बतलाइए, देवताओं का वैरी कौन पराक्रम-धाम।
मेरे शरसमूह से होकर विफल-बाहुबल कम्पित गात,
अधर कोप-विस्फुरित देख कर, डरे स्त्रियों से भी दिनरात

१०

हे सुरेश! तेरे प्रसाद से कुसुमायुध ही मैं, इस काल,
साथ एक ऋतुपति को लेकर, और प्रपञ्च यहीं सब डाल

* नितम्बिनी—स्त्री।

धैर्य पिनाकपाणि हर का भी, कहिए, स्खलित करूँ देवार्थ;
और धनुष धरनेवाले सब मेरे सम्मुख तुच्छ पदार्थ !

११

पादपीठ को शोभित करते हुए इन्द्र ने, इतने पर,
जंघा से उतार कर अपना खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित विषय में सुन कर मन्मथ का सामर्थ्य महा,
उससे अति-आनन्द-पूर्वक, समयोचित, इस भाँति कहा॥

१२

सखे ! सभी तू कर सकता है, तेरी शक्ति जानता हूँ;
तुझको और कुलिश को ही मैं अपना अस्त्र मानता हूँ।
तपोबली पुरुषों के ऊपर वज्र व्यर्थ हो जाता है;
मेरा तू अमोघ साधन है, सभी कहीं तू जाता है॥

१३

तेरा बल है विदित; तुझे मैं अपने तुल्य समझता हूँ;
बड़े काम में इसीलिए ही तव नियुक्ति मैं करता हूँ।
देख लिया जब यह कि शेष ने सिर पर भूमि उठाई है;
तभी विष्णु ने उस पर अपनी शय्या सुखद बनाई है॥

१४

यह कह कर कि सदाशिव पर भी चल सकता है शर तेरा,
मानों अङ्गीकार कर लिया काम ! काम तूने मेरा।
यही इष्ट है; क्योंकि, शत्रु अब अति उत्पात मचाते हैं;
यज्ञभाग भी देववृन्द से छीन छीन ले जाते हैं॥

१५

जिसके औरस पुत्ररत्न को करके अपना सेनानी,
सुर विजयी होना चहते हैं, मार असुर सब अभिमानी।
वही महेश समाधिमग्न हैं; पास कौन जा सकता है ?
तेरा विशिख तथापि एकही कार्य्य-सिद्धि कर सकता है॥

१६

ऐसा करो उपाय जाय कर, हे रतिनायक बड़भागी !
हों जिससे पवित्र गिरजा में योगीश्वर हर अनुरागी ।
इनके योग्य कामिनी-कुल में वही एक गिरि-बाला है,
सत्य वचन ब्रह्मा ने अपने मुख से यही निकाला है ॥

१७

जहाँ हिमालय ऊपर हर ने तपःक्रिया विस्तारी है,
गिरिजा वहीं पिता की अनुमति से सेवार्थ सिधारी है
यह संवाद अप्सराओं से सुन पाया मैंने सारा;
भेद जान लेता हूँ सब का सदा इन्हीं के ही द्वारा ॥

१८

अतः सुरों की कार्यसिद्धि के लिए करो अब तुम प्रस्थान;
इसे करेगी सफल उमा ही, इसमें कारण वही प्रधान ।
तू भी है तथापि इस सब का हेतु अपेक्षाकृत बलवान्,
उग आने के पहले, आदिम अङ्कुर के जलदान समान

१९

सकल सुरों की विजय-कामना के उपाय हैं हर, उन पर,
शर तेरे ही चल सकते हैं; बड़भागी है तू अतितर ।
अप्रसिद्ध भी कार्य, और से हो सकता जो कभी नहीं,-
उसके भी करने में यश है; यह तो विश्रुत सभी कहीं ॥

२०

ये सब सुर तेरे याचक हैं; गति इनकी कुण्ठित सारी;
है तीनों लोकों का मन्मथ ! काय महामङ्गलकारी ।
तव धन्वा के लिए काम यह नहीं निपट घातक भारी;
तेरे तुल्य न वीर और है; अहो विचित्र-वीर्यधारी !

२१

ऋतुनायक तेरा सहचर है सदा साथ रहनेवाला;
बिना कहे ही तुझको देगा वह सहायता, इस काला ।

शिखा अग्नि की बढ़ा दीजिए हे समीर ! जीवनदाता" !
भला पवन से भी क्या कोई इस प्रकार कहने जाता ?

२२

एवमस्तु कहकर, स्वामी के अनुशासन को अति-अभिराम ;
मालावत मस्तक ऊपर रख, सादर चला वहाँ से काम ।
ऐरावत की पीठ ठोकने से कर्कश कर को स्वच्छन्द,
सुरपति ने उसके शरीर पर फेरा कई बार सानन्द ॥

२३

प्रिय वसन्त, प्रियतमा प्राणसम रति भी, दोनों निपट सशङ्क
मन्मथ के अनुगामी होकर चले साथ उसके सानङ्क ।
"मैं अवश्य सुरकार्य करूँगा, चाहे हो शरीर भी नाश"—
यह दृढ़ कर, हिमशैल-शृङ्ग पर गया अनङ्ग शिवाश्रम-पास ॥

२४

उस आश्रमवाले अरण्य में थे जितने संयमी मुनीश,
उनके तपोभङ्ग में तत्पर हुआ वहाँ जाकर ऋतु-ईश ।
मन्मथ के अभिमानरूप उस मधु*ने अपना प्रादुर्भाव
चारों ओर किया कानन में, दिखलाया निज प्रबल प्रभाव ॥

२५

यक्षराज† जिसका स्वामी है उसी दिशा की ओर प्रयाण
करते हुए देख दिनकर को, उल्लङ्घन कर समय-विधान ।
मन में अति दुःखित सी होकर, हुआ समझ अपना अपमान
छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास-समान ॥

२६

कामिनियों के मधुर-मधुर-रवकारक नव-नूपुर-धारी
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी ।

---

* मधु = वसन्त । † यक्षराज = कुबेर ।

गुड़े से लेकर, अशोक ने, तत्क्षण, महा-मनोहारी
कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी

२७

कोमल पत्तों की बनाय, झट, पक्षपंक्ति लाली लाली,
आम्रमञ्जरी के प्रस्तुत कर नये विशिख शोभाशाली।
शिल्पकार ऋतुपति ने उन पर मधुप मनोहर बिठलाये;
काम-नाम के अक्षर मानों काले काले दिखलाये॥

२८

रहती है यद्यपि कनेर में रुचिर रङ्ग की अधिकाई,
तदपि सुवासहीनता उसके मन को हुई दुःखदायी।
वही विश्वकर्ता करता है जो कुछ जी में आता है;
सम्पूर्णता गुणों की प्रायः कहीं नहीं प्रकटाता है॥

२९

बालचन्द्र सम जो टेढ़ी हैं; जिनका अब तक नहीं विकाश;
ऐसी अरुणवर्ण कलियों से अतिशय शोभित हुआ पलाश
मानों नव-वसन्त-नायक ने, प्रेम-विवश होकर, तत्काल,
वनस्थली को दिये नखों के क्षतरूपी आभरण रसाल॥

३०

नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलक फूल को तिलक समान,
देकर मधुपमालिकारूपी मृदु कज्जल शोभा की खान।
जैसा अरुण रङ्ग होता है बालसूर्य में प्रातःकाल,
तद्वत् नवल-आम-पल्लव-मय अपने अधर बनाये लाल॥

३१

रुचिर चिरोंजी के फूलों की रज जो उड़ उड़ कर छाई;
हरिणों की आँखों में पड़ कर, पीड़ा उसने उपजाई।
इससे, वे अन्धे से होकर, मरमरात पत्तेवाले
कानन में, समीरसम्मुख, सब भागे मद से मतवाले॥

३२

आम्रमञ्जरी का आस्वादन कोकिल ने कर बारंबार,
अरुणकण्ठ से किया शब्द जो महा मधुरता का आगार।
"हे मानिनी कामिनी ! तुम सब अपना मान करो निःशेष"
इस प्रकार मन्मथ-महीप का हुआ वही आदेश विशेष ॥

३३

जिनके अधर निरोग हो गये हिम पड़ना मिट जाने से,
जिनकी मुख-छवि पीत होगई कुंकुम के न लगाने से।
ऐसी किन्नर-कामिनियों के तन में स्वेदबिन्दु, सुन्दर,
रुचिर पत्र-रचना के ऊपर, शोभित हुए, प्रकट होकर ॥

३४

शिव-आश्रम के आस पास थे जितने मुनिवर वनवासी,
असमय में ही देख आगमन ऋतुपति का मायाराशी।
सहसा अति गुरुतर विकार का, कई बार, खाकर झोंका,
किसी प्रकार उन्हों ने अपना विचलित-चित्त- वेग रोका ॥

३५

पुष्पशरासन पर चढ़ाय शर, उस प्रदेश में जब रतिनाथ,
पहुँचा, निज सहधर्म्मचारिणी रति को लेकर अपने साथ।
जितने थे स्थावर, जङ्गम, सब, आतुरता-वश बारंबार,
रति-सूचक-शृङ्गार-भावना करने लगे अनेक प्रकार ॥

३६

फूलरूप एकही पात्र में भरा हुआ मीठा मकरन्द,
भ्रमरी के पीने के पीछे, पिया भ्रमरवर ने स्वच्छन्द।
छूने से जिस प्रिया मृगी ने सुखवश किये विलोचन बन्द,
एक सींग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानन्द ॥

३७

गजिनी ने मुख में रख कर जल पङ्कज-रजोवास वाला,
रस के वश होकर, फिर, उसको निज गज के मुख में डाला।

आधे खाये हुए कमल के मञ्जुल तन्तुजाल देकर,
चक्रवाक ने किया प्रिया का आदर, अनुरागी होकर ॥

३८

ऊँचे स्वर से गान-समय में, प्रचुर परिश्रम होने से,
कुछ कुछ बिगड़ गई जिस मुख पर पत्रावली पसीने से
पुष्पासव पीने से जिस पर घूम रहे दृग अरुणारे,
रसिक किन्नरों ने पत्नी के चूमे मुख ऐसे प्यारे ॥

३९

फूले हुए नवल फूलों के गुच्छेरूपी कुचवाली,
हैं चञ्चल पल्लव ही जिनके अधर मनोहरताशाली ।
ऐसी ललित-लता-ललनाओं से तरुओं ने भी पाया,
झुकी हुई शाखाओं के मिष भुजबन्धन अति मन भाया

४०

चतुर अप्सराओं का, इस क्षण, सुन कर भी मञ्जुल गाना,
आत्मा का चिन्तन ही करते रहे महेश्वर भगवाना ।
जिन महानुभावों के वश में अपना मन हो जाता है,
तपोविघातक विघ्न कभी भी उनके पास न आता है ॥

४१

लिये हुए निज वाम हस्त में अति अभिराम हेम का दण्ड,
लता भवन के भव्य द्वार पर गया हुआ नन्दी उद्दण्ड ।
मुख पर उँगली रख धीरे से बोला ऐसे वचन विशेषः—
" हे गणवृन्द ! करो न चपलता; मानो तुम मेरा आदेश"

४२

कम्पहीन सब हुए महीरुह, निश्चल हुए मधुप-समुदाय;
मूक हुए खग; शान्त हुए मृग, अपना आवागमन भुलाय
वह सारा अरण्य नन्दी का दुर्विलंघ्य अनुशासन पाय,
तत्क्षण ही होगया चित्रवत्, स्वाभाविक भी नियम विहाय

४३

यात्रा में सम्मुख पड़ता है जहाँ शुक्र, उस-देश-समान,
दृष्टि बचाय नन्दिकेश्वर की, बड़े बड़े कर यत्न-विधान।
सुरपुन्नाग-वृक्ष-शाखायें फैली थीं जिस पर सविशेष,
शङ्कर के समाधि-मण्डप में रतिनायक ने किया प्रवेश॥

४४

पावन देवदारु तरुवर की विशद वेदिका सुखदायी,
शारदूल के रुचिर चर्म से भली भाँति जो थी छाई।
योग मग्न त्रिनयन को बैठे हुए वहाँ उसके ऊपर,
शीघ्र शरीर छोड़नेवाले मनसिज ने देखा जाकर॥

४५

तन का भाग ऊपरी स्थिर था; वीरासन में थे शङ्कर,
बैठे थे सीधे ही व; पर कन्धे थे विनम्र अतितर।
उलटे रक्खे देख पाणियुग, मन में ऐसा आता था,
खिला कमल उनकी गोदी में मानो शोभा पाता था॥

४६

लिपटा कर भुजङ्गवर ऊँचा जटा-कलाप बनाया था;
दोनों कानों में द्विगुणित कर अक्षमाल लटकाया था।
कृष्णासार-मृग चर्म उन्हों ने, गाँठ बाँध, लिपटाया था,
कण्ठ कालिमा ने कालापन उसका बहुत बढ़ाया था॥

४७

जो थोड़े ही भासमान थे जिनकी अचल उग्र तारा,
और, जिन्होंने भुला दिया था भृकुटी का विलास सारा।
पलक-जाल-जिनके निश्चल थे किरण अधोमुख पड़ते थे,
उस नयनों से नासा की नोक मंऽश देखते थे॥

४८

वारिद-वृन्द बिना वर्षा के जैसे शोभा पाता है,
बिना *लोलकल्लोल-कला के जैसे सिन्धु दिखाता है।

---

*कल्लोल—लहर।

बिना वायुवाले मन्दिर में कम्पहीन दीपक जैसे,
अन्तर्गत-मारुत-निरोध से शम्भु हो रहे थे वैसे ॥

४९

विमल ज्योति की छटा शीश से होकर उदित, निकलती थी;
निकल, तीसरे दृग के पथ से जो सब ओर फैलती थी
उससे, मृदुल-मृणाल-तन्तु की माला से भी कोमलतर,
बालचन्द्रमा की शोभा को म्लान कर रहे थे शङ्कर ॥

५०

त्रिगुण तीन द्वारों में मन का आवागमन रोक, ईशान,
वश में कर उसको समाधि से. दे हृदयारविन्द में स्थान
जिसको अविनाशी कहते हैं बड़े बड़े विज्ञान-निधान
उस आत्मा को वह अपने में देख रहे थे करके ध्यान ॥

५१

मन से भी जिनकी न धर्षणा हो सकती है किसी प्रकार,
ऐसे दुराधर्ष त्रिनयन को देख समीप भाग से मार।
वह, यह सका न जान, तनिक भी, शिथिलित-कर होकर, डर
शर भी, और शरासन भी कब छूट पड़े उसके कर से

५२

तदुपरान्त, निज सुन्दरता से, मन्मथ का प्रायः निःशेष,
हुआ वीर्य पुनरुज्जीवित सा फिर से करती हुई विशेष।
साथ लिये वन की दो देवी, धरती हुई शम्भु का ध्यान,
हुई नयनगोचर गिरिकन्या गिरिजा गुण-गौरव की खान ।

५३

जिसके नव अशोक फूलों ने पद्मराग-छवि छीन लिया,
जिसके कर्णिकार-कुसुमों ने स्वर्णवर्ण दुर्वर्ण किया।
जिनके निर्गुण्डी के गुच्छ हुए मोतियों की माला:—
वही वसन्त-पुष्प के गहने पहने थी वह गिरिबाला ॥

५४

अतिउत्तुङ्ग-उरोज-भार से वह कुछ नम्र दिखाती थी;
बालसूर्य-सम लाल-वस्त्र से ऐसी शोभा पाती थी।
प्रचुर-पुष्प-गुच्छों से झुक कर नये नये पल्लव-वाली,
चलती है, भूतल पर, माने ललित-लता लाली लाली॥

५५

अच्छे बुरे स्थान के ज्ञाता चतुर मनोभव के द्वारा,
रक्खी गई धनुष की अन्या डोरी सम शोभा-सारा।
कटि-करधनी बकुल-फूलों की ढीली हो हो जाती थी,
उसको वह अपने नितम्ब पर बार बार ठहराती थी॥

५६

परम-सुगन्धवती श्वासों से बढ़ी हुई तृष्णा-वाले,
बिम्बाधर के पास, मधुप जो आते थे काले काले।
इससे वह दृग चञ्चल करके, क्षण क्षण में घबराती थी,
और, खेल के कमल-फूल से उनको दूर उड़ाती थी॥

५७

* काम-कामिनी को भी लज्जित करनेवाली बारंबार,
उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी को कर लोचनगोचर भले प्रकार।
अति दुर्जय, अति अगम, जितेन्द्रिय, शूलपाणि शिव के स्वाधीन,
अपने कार्य्यसिद्धि की आशा मनसिज को फिर हुई नवीन॥

५८

होनहार निज पति शङ्कर का तपोभवन जो था सुन्दर,
उसके परम पवित्र द्वार पर शैलसुता पहुँची जाकर।
अन्तर्गत परमात्मसंज्ञक तेजःपुञ्ज विलोकन कर,
प्रखर-योग-साधक समाधि से विरत शम्भु भी हुए उधर॥

---

* काम-कामिनी—रति।

५९

जिनके आसन के नीचे के भूमिभाग को सर्पाधीश,
फण-सहस्र पर बड़े यत्न से रक्खे रहा लगाये शीश।
वे महेश निज प्राणवायु को धीरे धीरे युक्ति समेत,
छोड़, निबिड़ वीरासन अपना शिथिलित करके हुए स

६०

"महाराज ! गिरिवर की कन्या सेवा करने है आई"—
शीश नाय नन्दी ने उनसे कही बात यह सुखदायी।
स्वामी के भ्रू भंग-मात्र से जब उसने निदेश पाया;
गिरिजा को सत्कार सहित वह उनके सम्मुख ले आया

६१

तोड़े हुए हाथ से अपने, महा मनोहरता के मूल,
पत्तों के टुकड़ेयुत नूतन शिशिरान्तक वसन्त के फूल।
गिरिजा की दोनों सखियों ने, विधिवत् करते हुए प्रणाम,
शिव के पैरों पर बिथराये जोड़ पाणिपङ्कज छविधाम ॥

६२

नील अलक में शोभित नूतन कर्णिकार-कलिका सुन्दर,
देह झुकाते समय गिराती हुई महीतल के ऊपर।
कानों के पल्लव टपकाती, मस्तक निज नीचे रख कर,
किया उमा ने भी, तदनन्तर, शङ्कर को प्रणाम सादर ॥

६३

"पावे तू ऐसा पति जिसने देखी नहीं अन्य नारि" —
यह सच्ची आशीष ईश ने दी उसको सब सखकारी।
महामहिमपुरुषों के मुख से वचन निकल जा जाता है;
विश्व बीच विपरीत भाव वह कभी नहीं दरसाता है ॥

६४

जलती हुई आग में गिरने के इच्छुक पतङ्ग सम मार,
बाण छोड़ने का शुभ अवसर आया है, यह कर कुविचार

गिरिजा के समक्ष शङ्कर को लक्षीकृत कर भले प्रकार,
अपने धन्वा की प्रत्यञ्चा तानी उसने बारंबार ॥

६५

मन्दाकिनी नदी ने जिसको निज जल में उपजाया है;
दिनकर ने अपनी किरणों से जिसे विशेष सुखाया है।
वह सरोज-बीजों की माला, अरुण-वर्ण कर में लेकर,
गिरिश तपस्वी को गौरी ने अर्पण की सुन्दर सुन्दर ॥

६६

प्रिय होगा प्रेमिणी उमा को इसके लेने का व्यापार:
यह विचार कर उस माला को शिव ने इधर किया स्वीकार।
संमोहन-नामक अमोघ शर निज निषङ्ग से उधर निकाल,
कुसुमशरासन पर, कौशल से, मन्मथ ने रक्खा तत्काल ॥

६७

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश समान,
कुछ कुछ धैर्यहीन होकर के, संयमशील शम्भु भगवान।
लगे देखने निज नयनों से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरिजा का बिम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह ॥

६८

खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गों द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनों से, प्रमिष्ट सी, वहाँ, देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खड़ी रही ॥

६९

महा जितेन्द्रिय थे, इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रियक्षोभ का बलपूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यों ? इसका हेतु जानने को सत्वर,
चारों ओर सघन कानन में प्रेरित किये विलोचन वर ॥

७०

नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाये हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाये हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल॥

७१

जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभङ्ग होजाने से,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से।
उन हर के तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात् अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला॥

७२

"हा हा! प्रभो! क्रोध यह अपना करिए, करिए, शान्त"—
इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करें नितान्त।
तब तक हर * के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष॥

७३

अति दारुण विपत्ति के कारण महामोह का हुआ विकाश,
उसने रति के इन्द्रियगण की नियत वृत्ति का किया विनाश।
प्रियतम पति की विषम दशा का क्षण भर उसको रहा न ज्ञान,
उस अबला पर हुआ, इसी मिष, मानो यह उपकार महान॥

७४

तरुवर के टुकड़े करता है भीषण वज्रपात जैसे,
तप के विघ्नरूप मनसिज का देह-भङ्ग कर के तैसे।

---

* मूल श्लोक में, यहाँ पर, कालिदास ने 'भव' शब्द का प्रयोग किया है। भव महादेव का नाम है; और भव, जन्म (उत्पत्ति) को भी कहते हैं। अतः, इस अवसर पर, हमारी समझ में, संहारवाची शङ्कर का दूसरा नाम 'हर' यदि आता तो अधिक अच्छा होता। अनुवादक

नारि के नैकट्य-त्याग की इच्छा से, सब भूत लिए,
भूतनाथ, अपने आश्रम से तत्क्षण अन्तर्धान हुए ॥

७५

अपनी ललित-शरीर-लता भी, उच्च पिता का भी अभिलाष,
व्यर्थ समर्थन कर दोनों को, मन में होती हुई हताश।
सखियों ने भी देख लिया सब इस दुर्घटना का व्यापार !
अतः अधिक लज्जित होकर घर गईं उमा भी, किसी प्रकार ॥

७६

कुपित रुद्र के भय से अपनी आँख बन्द करनेवाली,
दयायोग्य कन्या को हाथों पर रख गिरिवर बलशाली।
लिये कमलिनी को दाँतों पर सुरगज सम शोभाधारी,
देह बढ़ाता हुआ, वेग से, हुआ शीघ्र ही पथचारी * ॥

इति तृतीय सर्ग।

अथ चतुर्थ सर्ग।

१

विवश चेतना-हीन, विकल, विह्वल, बेहाला,
पड़ी रही कुछ काल कुसुम-शायक की बाला।
देने का वैधव्य-वेदना अतिशय दुस्तर,
जागृत उसको किया वाम विधि ने तदनन्तर ॥

२

किया नयन-निक्षेप व्यथित रति ने जब उठ कर,
दृग्गोचर कर सकी न वह पति-रूप मनोहर।
"जीते हो हे नाथ !" वचन यह कह विषाद-कर,
देखी पुरुषाकार भस्म उसने भूतल पर ॥

---

* पथचारी = मार्गानुसरण करनेवाला; मार्ग में सञ्चार करनेवाला।

३

तब धरती पर लोट, कुचों पर धूल लगाये,
देहदशा को भूल, अखिल अलकें बिखराये।
सारे वन को दुखित बनाती हुई दुखारी,
करने लगी विलाप पञ्चशायक की प्यारी ॥

४

जो यह तेरा गात मनोहरता की राशी,
उनका था उपमान सदा जो सुघर विलासी।
उसकी ऐसी दशा हुई! फटती नहिँ छाती!!
हाय हाय अति-कठिन निंद्य नारी की जाती!!!

५

नव नलिनी को नीर छोड़ जाता है जैसे,
कहाँ गया हे नाथ! छोड़ मुझको तू तैसे?
किया नहीं प्रतिकूल कभी कुछ मैंने तेरा,
फिर क्यों देता नहीं दरस रोदन सुन मेरा?

६

हुआ स्मरण क्या तुझे करधनी से निज-बन्धन?
अथवा प्रणय-विशिष्ट कमल-कलिका से ताड़न
"हृदय बीच तव वास"—कथन यह कपट तुम्हारा
क्योंकि, अतनु तुम हुए; तदपि तनु बना हमारा

७

अन्य लोक तुम गये नये ही हे प्रिय मेरे!
निश्चय ही मैं नाथ! निकट आऊँगी तेरे।
वञ्चित हुआ, परन्तु जगत यह विधि के द्वारा:
तेरे ही आधीन सौख्य इसका था सारा॥

८

निविड़ निशा में, नित्य, नगर-गलियों के भीतर,
घन-गर्जन-भयभीत सुलोचनियों को सत्वर।

निज निज प्रिय के गेह, स्नेह वर्द्धित कर प्यारे !
पहुँचावेगा हाय ! कौन अब बिना तुम्हारे ?

९

कामिनियों के लिए मधुर मदिरा मुदकारी,
विडम्बना है, बिना तुम्हें, अब भी बनाई ।
नाम-शेष सुन तुम्हें शशी अति पछतावेगा,
शुक्ल पक्ष में भी न वृद्धि सुख से पावेगा ॥

१०

लाल तथा कुछ हरे चारुतर-बन्धन-धारी,
कोकिल-कल-विज्ञान, लोक-लोचन-सुखकारी ।
ऐसे नवल रसाल-फूल के अद्भुत शायक
ग्रहण करेगा कौन ? कहो प्रिय हे मम नायक !

११

मधुकर-पंक्ति मनोज ! जिसे तूने अपनाया ;
प्रत्यञ्चा बहु बार धनुष की जिसे बनाया ।
वनस्थली को आज करुण-स्वर से भरती है ;
मुझको दुःखित देख, रुदन सा वह करती है ॥

१२

धारण कर तनु रुचिर, उठो, मुख मुझे दिखावो ;
रति-योजक उपदेश पिकों को नाथ ! सुनावो ।
स-प्रणाम स-विकम्प सुरत-याचन वह तेरा,
सोच सोच कर, धैर्य नाश होता है मेरा ॥

१३

हे रति-कला-प्रवीण ! कुसुम वासन्तिक लेकर,
तुमने किये मदर्थ स्वयं जो आभूषण-वर ;
अङ्ग अङ्ग में उन्हें किये हूँ अब तक धारण ;
किन्तु देखती नहीं देह तव उनका कारण !

१४

यावक-रस मम वाम पाद में, नाथ लगाओ ;
असम्पूर्ण ही छोड़ गये तुम उसको; आओ ।
अथवा सुर-सुन्दरी तुम्हें जब तक न लुभावें,
तब तक सुरपुर हमीं, अनल में जल कर, आवें

१५

"रति मनसिज के बिना रही पल भर भी जीवित—"
हे मम जीवित-नाथ ! कहेंगे यही सभी नित ।
यद्यपि तनु तज, अभी तुम्हें फिर अङ्क भरूँगी ,
इस कलङ्क को दूर तदपि किस भाँति करूँगी

१६

शोक ! शोक ! ! हा शोक ! ! ! अहो परलोक-निवासी
अन्त्य कृत्य तक नहीं कर सके है यह दासी ।
अवितर्कित गति हुई हाय ! तेरी है स्वामी !
जीवन भी तब गया, गया वह तनु भी नामी !

१७

गोदी में रख चाप, अहह हे हृदय-विहारी !
सीधा करते हुए विशिख त्रिभुवन-वशकारी ।
तुमने ऋतुपति सङ्ग किये जो कथन रसीले,
सब आते हैं स्मरण; नहीं हैं मुझ को भूले ॥

१८

तव हृदयङ्गम सखा सुमन-धन्वा का दाता
कहाँ गया ऋतुराज ? नहीं वह मुझे दिखाता ।
क्या उसको भी कुपित शम्भु ने दोषी पाया ?
जो गति तेरी हुई उसी गति को पहुँचाया ?

१९

ये विलाप के वचन लगे ऋतुपति को ऐसे,
लगते हैं विष-बाण हृदय के भीतर जैसे

समझाने के लिए रूप उसने प्रकटाया ;
आतुर रति के निकट वहाँ वह तत्क्षण आया ॥

२०

रति ने उसको देख, अश्रु की धार बहाई ;
पीड़ा भी, उर पीट, उरोजों को पहुँचाई ।
निज-जन-सम्मुख दुःख बहुत ही बढ़ जाता है;
वह, कपाट से तोड़, निकल बाहर आता है ॥

२१

बोली वह, इस भाँति, महा-शोकाकुल बानी ,
हे वसन्त ! यह देख मित्र की बची निशानी ।
रज में परिणत हुआ पड़ा वह दिखलाता है ;
पवन इधर से उधर उसे अब बिखराता है !

२२

हे मन्मथ ! हे मदन ! आय अब दर्शन दीजे ;
उत्सुक यह ऋतुराज, अनुग्रह इस पर कीजे ।
नारि में नर-प्रेम सर्वदा चल रहता है ;
किन्तु मित्र में अचल,—यही सब जग कहता है ॥

२३

चाप-रज्जु के लिये कमल के तन्तु मनोहर ,
तथा शरों के लिए फूल अति कोमल देकर ।
इस सहचर ने विश्व सुरासुर-पूरित सारा ,
वशीभूत, सब भाँति, कर दिया नाथ ! तुम्हारा

२४

गया सखा तव, दीप पवन से ज्यों जाता है ;
बत्ती सी मैं रही ; चित्त अति अकुलाता है ।
पति-वध ही विधि ने न, किया मम वध भी उसने ;
आश्रय-विटप-विहीन लता देखी है किसने ?

२५

निशा शशी के सङ्ग, दामिनी घन के जाती,
सङ्ग-गमन की रीति जड़ों में भी दिखलाती।
हे वसन्त ! अतएव कृपा करिए यह मुझ पर,
प्राणनाथ के पास भेजिए मुझे भस्म कर ॥

२६

पति-तनु की रज रुचिर कुचों से मैं लिपटाऊँ ;
पल्लव-तल्प समान अनल की सेज बनाऊँ ।
बहुधा मिला सहाय सुमन-शय्या में तेरा ;
प्रस्तुत कर अब चिता, विनय तुझसे यह मेरा

२७

फिर मलयानिल छोड़ जलाना मुझको सत्वर ;
मेरे बिना मनोज्ञ नहीं रह सकता पल भर ।
देना जल की हमें एक ही अञ्जलि सादर ;
उसे करेंगे पान वहाँ हम दोनों मिल कर ॥

२८

महा मनोहर फूल आम की डालों वाले,
पल्लव जिनमें लगे मृदुल-तर लाले लाले ।
पिण्ड-दान के समय यही रखना मुददायक ;
करता है अति प्यार इन्हें मम नागर-नायक ॥

२९

शुष्क-सरोवर-मध्य मीन मूर्छित मुरझानी ,
होती है ज्यों मुदित पाय पावस का पानी ।
मरण-हेतु-उद्योगवती, त्यों, मनसिज-नारी
सुन कर प्रमुदित हुई व्योम-वाणी सुखकारी ॥

३०

हे रति ! सत्वर तुझे मिलेगा तव मनभाया ;
कारण सुन जिस लिए ईश ने उसे जलाया ।

उसने विधि का चित्त सुता-अनुरक्त बनाया;
शाप-बद्ध हो, अतः, आज फल ऐसा पाया ॥

३१

जब शिव-सङ्ग विवाह करेंगी शैल-कुमारी,
तब अनङ्ग को अङ्ग-दान देंगे त्रिपुरारी ।
ब्रह्मा ने, इस भाँति, शाप की अवधि कही है;
कोप अनन्तर कृपा—बड़ों की रीति यही है ॥

३२

विशदवदनि ! इसलिए बना रख यह वपु सुन्दर ;
यथा-समय तनु पाय, मिलेगा तेरा प्रियवर ।
आतप से जो नदी निर्जला हो जाती है ;
पावस में वह नया नीर पुनरपि पाती है ॥

३३

छिपे छिपे, इस भाँति, किसीने वचन सुनाया;
रति का मरण विचार शिथिलता को पहुँचाया ।
ऋतुनायक ने उसे विविध विध तब समझाया ;
समयोचित कह कथा, युक्ति से दुःख घटाया ॥

३४

तदनन्तर यों दुःख-दलित वह मदन-वधू अति-कृशित-शरीर
करने लगी प्रतीक्षा पति की किसी भाँति धारण कर धीर ।
ज्यों दिन में उत्पन्न शशि-कला छटा-क्षीण सुन्दरता-हीन
सुखकर-सायङ्काल-प्रतीक्षा करती है तनु लिये मलीन ॥

इति चतुर्थ सर्ग ।

पञ्चम सर्ग * ।

१

सम्मुख ही, उस भाँति, शम्भु ने कामदेव का करके दाह,
करदी विफल साथ ही उसके, निज-विषयक गिरिजा की चाह।
अतः उमा ने रम्य रूप को धिक्कारा बहु बार लजाय,
वही सुघरता सफल समझिए जो प्रियतम को सके लुभाय॥

२

लाय समाधि अखण्डित तप का अनुष्ठान करके भारी,
सफल उमा ने करना चाहा अपना रूप मनोहारी।
बिना यह किये कैसे मिलतीं दोनों बातें सुखकारी—
वैसा प्रेम; और, फिर, वैसा मृत्युञ्जय पति त्रिपुरारी॥

३

मेना ने जब सुना कि मेरी कन्या शिव को चहती है;
और, उन्हीं के लिए तपस्या वन में करने कहती है।
तब मुनियों के कठिन धर्म्म से करती हुई निवारण वह,
बड़े प्रेम से शैलसुता को गले लगा कर बोली यह॥

४

मनमाने घरही में सुर हैं, सुते! उन्हीं की सेवा कर;
कहाँ क्लेशकारी तप? तेरा कहाँ कलेवर कोमल-तर?
अति मृदु सिरस-फूल मधुकर का हलका पद सह सकता है,
पक्षी का पद सह सकने की नहीं शक्ति वह रखता है॥

५

माता ने, इस भाँति, उमा से कहा सभी कुछ मनमाना;
किन्तु न रुकी तपस्या से वह; व्यर्थ हुआ सब समझाना।

---

* तृतीय सर्ग की तरह इस सर्ग की भी मूल कविता बहुत ही मनोहारिणी है। इसलिए इस सर्ग का भी पूरा अनुवाद किया गया है
अनुवादक

मन का दृढ़ सङ्कल्प, और जल जो नीचे को गिरता है,
कोटि यत्न करने पर भी वह किसका फेरा फिरता है ?

६

मनोऽभिलषित जाननेवाले गिरिवर से निज अभिलाषा,
एक बार, आली के मुख से, शैलसुता ने यों भाखा।
"फल मिलने तक, वन में मुझको तप-निमित्त रहने दीजे:
यही आप से मैं चहती हूँ, प्यारे पिता कृपा कीजे" ॥

७

यह अपने अनुरूप प्रार्थना लगी पिता को अति प्यारी ;
दिया निदेश उसी क्षण उसने, मन में मान मोद भारी।
जिस मयूर-मण्डित गिरि ऊपर गौरी तप के लिए गई,
उसको गौरी-शिखर नाम की पावन पदवी मिली नई ॥

८

अपनी लोल लरों से चन्दन-लेप मिटानेवाली माल
दृढ़-निश्चयधारिणी उमा ने तृण समान तज कर तत्काल।
उच्च कुचों की कठिनाई से फटा हुआ वल्कल अभिराम
बाल-सूर्य-सम पीत-वर्ण का बाँधा निशि दिन आठों याम।

९

कुञ्चित-कच-कलाप-युत उसके मुख पर थी जो मधुराई,
जटा-जूट रखने पर भी वह रही पूर्ववत ही छाई।
मधुपावली-सङ्ग जो शोभा पङ्कज-कलिका पाती है,
सघन-सिवार-सङ्ग में भी वह वैसी ही दिखलाती है ॥

१०

क्षण क्षण में रोमाञ्च-कारिणी मूँज-मेखला लिहराई,
व्रत-पालन के लिए उमा ने निज कटि को जो पहनाई।
पहले पहल पहनने से वह हुई बहुत ही दुखदाई,
उसके अति-सुकुमार जघन पर करदी उसने अरुणाई ॥

११

अधरों के रँगने में अपना अतिशय कोमल कर न लगाय,
कुच-गत-अङ्गराग से अरुणित कन्दुक से भी उसे हटाय।
कुश के अङ्कुर तोड़ तोड़ कर घाव उँगलियों में उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने वन में आय॥

१२

मूल्यवान शय्या के ऊपर निज केशों से कोमल फूल,
गिर कर, जिसको चुभते से थे; होते थे पीड़ा का मूल।
वही बिछौने बिन वेदी पर तकिया अपनी बाँह बनाय,
सोई और वहीं बैठी भी तपोधर्म में ध्यान लगाय॥

१३

व्रत-पालन में तत्पर उसने "फिर ले लूँगी"—यह मन ठान,
ये दोनों हीं इन दोनों को दिये धरोहर-वस्तु-समान।
ललित लताओं को पहले के अपने सब शृङ्गारिक भाव,
हरिण-नारियों को नयनों की चञ्चलता का सहज स्वभाव

१४

आश्रम के अनेक पौधों को, आलसता तज, क्लेश उठाय,
बड़ा किया उसने घटरूपी-स्तन का पय स्वयमेव पिलाय।
प्रथम जन्म पाने के कारण जिनका सुत-वात्सल्य विशेष,
पुत्र-शिरोमणि कार्तिकेय भी नहीं कर सकेंगे निःशेष॥

१५

नित्य अञ्जुली भर भर पाकर वन के विमल अन्न का दान,
हरिण-यूथ, हिल, हुए यहीं तक गिरिजा में विश्वास-निधान
कि निज सखी-जन के सम्मुख ही उसने कौतूहल में आय,
उनके अति चञ्चल नयनों से नापे अपने नयन मिलाय॥

१६

शुचि-स्नान कर, डाल गले में वर वल्कल शोभाशाली,
हव्य हुताशन को पहुँचा कर, नित्य पाठ करनेवाली।

उस तापसी उमा का दर्शन करने आये मुनि ज्ञानी ;
धर्म्म-वृद्ध में वय की लघुता कहीं नहीं जाती मानी ॥

१७

जन्म-विरोधी जीवों ने भी वैर परस्पर त्याग दिया,
फल फूलों से अतिथि-जनों का तरुओं ने सत्कार किया ।
नवल पर्णशालाओं में अति अमल अग्नि रहने लागी ;
हुआ महा पावन वह सारा रम्य तपोवन बड़भागी ॥

१८

इतना तप करने पर उसने जी में जब यह अनुमाना ,
कि फल मुझे इतने से अब भी नहीं मिलेगा मनमाना ।
देह-मृदुलता की अनपेक्षा करके तब वह सुकुमारी,
करने लगी उसी क्षण से ही तपोविधान महाभारी ॥

१९

घर पर, गेंद खेलने से भी जिसे थकावट हुई विशेष,
उसी उमा ने मुनीश्वरों के दुर्गम पथ में किया प्रवेश ।
कञ्चन के कमलों से निर्म्मित था अवश्य गिरिजा का गात;
मृदुता और कठिनता दोनों जिनकी स्वाभाविक विख्यात

२०

उस सुहासिनी सिंहकटी ने, ग्रीष्मकाल में, पावक चार,
अपने चारों ओर जला कर, मध्यभाग में आसन मार ।
करके विजय नेत्र-संहारक किरणों की ज्वाला का जाल,
इकटक सूर्य्य-बिम्ब को देखा ऊँचा किये हुए निज भाल ।

२१

दिनकर की मरीचि-माला से महा तप्त हो, उक्त प्रकार,
उसके मुख-मण्डल ने पाया सरसिज की शोभा का सार
अतिविशाल दोनों नयनों के केवल कोनों ही के पास,
श्यामलता ने, धीरे धीरे, आकर अपना किया निवास ॥

२२

बिना याचना के जो कोई स्वयं सलिल ले आता था ;
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा-समय मिल जात
उसे छोड़ कर शैलसुता ने और न कुछ मुख में डाला ;
वृक्षों के समान आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला ॥

२३

रवि-रूपी आकाश-निवासी, महिवासी इन्धनवाला,
इन दोनों अनलों से उसने अपना तन तपाय डाला ।
वर्षा रितु में पहला पानी बरसा जब उसके ऊपर,
तब उसने साथ ही मही के छोड़ी उष्ण भाफ़ खर-तर

२४

प्रथम वृष्टि के बूँद उमा की बरोनियों पर कुछ ठहरे,
फिर, पीड़ित कर अधर, कुचों पर चूर चूर होकर बि
तदनन्तर, सुन्दर त्रिवली का क्रम क्रम से उल्लङ्घन कर,
बड़ी देर में पहुँच सके वे उसकी रुचिर-नाभि-भीतर ॥

२५

वायु-वेग के साथ, निरन्तर, हुई वृष्टि जब महा अपार,
तब भी शैल-शिला-ऊपर वह पड़ी रही छोड़े घर-द्वार ।
ऐसे तप की सत्य साक्षिणी नील-निशाओं ने, बहु बार ,
उसे, उस समय, मानों देखा चपला-रूपी चक्षु उघार

२६

साथ छूट जाने के कारण करुणामय-विलापकारी,
चक्रवाक जोड़े को करती हुई कृपा का अधिकारी ।
जिन में पवन-सङ्ग पड़ता था दुख-दायक पाला भारी,
ऐसी पूस-निशायें उसने पानी में काटीं सारी ॥

२७

तुहिन-वृष्टि होने से सरसिज जिस सर के थे गये सुखाय,
उसमें, उस गिरिराज-सुता ने रात रात भर खड़े बिताय

कम्पित अधर-पत्र से शोभित अपना मुख-सरोज विकसाय,
पुनरपि किया प्रफुल्लित मानों नये नीरजों का समुदाय ॥

२८

वृक्षों से जो पीली पत्ती गिर कर नीचे आती है ;
उसकी वृत्ति तपश्चर्य्या की सीमा समझी जाती है ।
इस प्रकार के जीर्ण पर्ण को भी न पार्वती ने खाया ;
इससे उसने नाम 'अपर्णा' इतिहासज्ञों से पाया ॥

२९

ऐसी कठिन तपस्या से निज कमल-नाल सम कोमल गात,
अस्थि-शेष होने तक क्रम क्रम करती हुई कृशित दिन रात ।
मुनियों के कठोर अङ्गों से सञ्चित तप को बारम्बार,
मात किया शैलेश सुता ने अपने तप से भले प्रकार ॥

३०

लिये मञ्जु मृग-चर्म्म और शुचि किंशुक-दण्ड मनोहारी,
जलता सा वर ब्रह्मतेज से, बातों में प्रगल्भ भारी ।
पावन-ब्रह्मचर्य्य-आश्रम की दिव्य-देह का अनुकारी ,
एक बार गिरिजा के वन में आया एक जटाधारी ॥

३१

भक्ति-भाव-युत शैल-सुता ने पूजा का लेकर सामान ,
निज आश्रम से आगे बढ़ कर किया जाय उसका सम्मान ।
सब प्रकार से सम होकर भी महा-महिम जन धर्म्म-निधान,
किसी किसी का, बड़े प्रेम से, करते हैं सत्कार महान ॥

३२

विधिवत किये गये आदर का हर्ष-सहित करके स्वीकार,
क्षण भर बैठ और कर पथ के श्रम-समूह का भी परिहार
कुटिल-कटाक्ष-हीन नयनों से शैलनन्दिनी ओर निहार,
किया यथाक्रम उसने अपने मधुमय वचनों का विस्तार ॥

३३

क्या कुश, समिधादिक सब तुझको यहाँ सुलभ दिखलाता ?

स्नान-योग्य क्या निर्म्मल जल भी इस वन में मिल जाता

बल-बाहर तो नहीं तपस्या करती है हे सुकुमारि ?

क्योंकि, देह यह सब धर्म्मों के साधन में सहायकारि

३४

लाक्षा-रस यद्यपि बहु दिन से पाया नहीं तदपि लाले,

इन तेरे अधरों की समता भली भाँति करनेवाले।

तुझसे सींची गई लताओं के नव-पल्लव अरुणारे,

क्या अपनी अपनी डालों में क्षेम-कुशल-युत हैं सारे ?

३५

हे नवीन-नीरज-दल-लोचनि ! निज चञ्चल लोचन दिखला

तव विलोचनों की समता सी करनेवाले मृग-समुदाय।

प्रेम-सहित, कर कमलों से कुश छीन छीन कर बारम्बार,

उपजाते तो नहीं चित्त में तेरे कोई कोप-विकार ?

३६

"रूपवान जन पाप-वृत्ति के नहीं पास भी जाता है—"

इस प्रकार का कथन सर्वथा सत्य मुझे दिखलाता है।

तेरा शील विलोकन करके हे उदार-दर्शनवाली !

मिलता है उपदेश उन्हें भी जो अति अद्भुत तपशाली.

३७

प्रात सप्त ऋषियों के फेंके फूलों को हँसनेवाले,

अमर-लोक से आये सुरसरि-सलिलों से हे गिरिबाले !

हिम-मण्डित यह शैल हिमालय पावन हुआ नहीं उतना,

तेरे महा अमल चरितों से अपने वंश-सहित जितना ॥

३८

हे अति विशद मनोरथवाली ! इस त्रिवर्ग में सब का सार,

एक धर्म्मही है—यह मेरे मन में आता है सुविचार।

क्योंकि, काम के और अर्थ के चिन्तन से वासना हटाय,
केवल धर्म-मार्ग का सेवन करती है तू चित्त लगाय ॥

३९

तूने आज किया है मेरा हे गिरिजे ! विशेष सम्मान;
अतः मुझे परकीय तुल्य तू अब मत अपने मन में मान।
विद्वानों का कथन है कि जो हो जावें बस बातें सात,
सुजनों की मित्रता, विश्व में, तो, उतने ही से विख्यात ॥

४०

मैं द्विज हूँ; इससे मुझ में है स्वाभाविक चञ्चलताई ;
अतः पूछना चाहता हूँ मैं एक बात जो मनआई।
क्षमावती ! हे तपस्विनी ! यह मम धृष्टता क्षमा कीजै;
बतलाने के योग्य होय जो तो मुझको बतला दीजै ॥

४१

निज उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के कुल में तूने पाई है;
त्रिभुवन की सुन्दरता मानों तन में आय समाई है।
यह अतुलित ऐश्वर्य और यह मनोमोहिनी तरुणाई;
तेरा तप होवेगा इससे अधिक और क्या फलदायी ?

४२

किसी महा दुःसह अनिष्ट से पीड़ित यदि हो जाती हैं,
मानवती महिलायें ऐसे तप में चित्त लगाती हैं।
किन्तु विचार-मार्ग में अपना मन जब मैं दौड़ाता हूँ,
हे कृशोदरी ! तुझ में कोई वैसी बात न पाता हूँ ॥

४३

हे सुन्दरि ! यह मधुर मूर्त्ति तव अपमानादिक योग्य नहीं ;
पिता-भवन में मान-हानि भी हो सकती है भला कहीं ?
यह भी सम्भव नहीं कि तुझ को कोई कभी सतावेगा;
भीम-भुजङ्ग-शीश की मणि पर निज कर कौन चलावेगा ?

४४

वल्कल सदा बुढ़ापे ही में शोभा को पाने वाला,
आभूषण तज नूतन वय में क्यों तूने तन पर डाला ?
शशी और तारों से शोभित सायङ्काल निशा-नारी,
रवि-सारथी पास जाने की करती है क्या तैयारी ?

४५

देव-लोक चहती है तो यह निष्फल श्रम-लीला सारी ;
तेरा पिता हिमालय ही है देव-भूमि का अधिकारी ।
पति पाने की यदि इच्छा है, तो समाप्त कर तप भारी ;
ग्राहक नहीं, रत्न ही ढूँढा जाता है हे सुकुमारी !

४६

उष्ण साँस लेकर पिछला ही कारण तू बतलाती है,
किन्तु बुद्धि मम संशय में फँस फिर भी चक्कर खाती है
तव प्रार्थना-योग्य इस विस्तृत विश्व में न है कोई वर ;
करने पर प्रार्थना भला फिर नहीं मिलेगा वह क्यों कर

४७

बिना कमल-कुण्डल कपोल तव सूने से दिखलाते हैं ;
उन पर जो ये लम्बे लम्बे जटा जाल लहराते हैं ।
इनको तुच्छ समझता है जो युवा स्नेह-भाजन तेरा,
वह अवश्य ही वज्र-हृदय है—यही अटल निश्चय मेरा ॥

४८

मुनियों के कठोर नियमों से अतिशय कृश होनेवाली,
देह दिवाकर की किरणों से किये हुए काली काली ।
दिन में उदित चन्द्र-लेखा सम गिरिजे ! तुझे विलोकन कर,
किस सजीव का हृदय दुःख से हाय ! नहीं होगा जर्जर

४९

कुटिल और काली बरोनियों से जो शोभा पाते हैं,
अवलोकन के समय चपलता करते जो सकुचाते हैं ।

ऐसे इन नयनों के सम्मुख हुआ नहीं तेरा प्यारा !
निश्चय निज-सौन्दर्य्य-गर्व से ठगा गया वह वेचारा !

५०

हे शैलेशनन्दिनी ! कब तक किया करेगी श्रम ऐसा ?
ब्रह्मचर्य्य-आश्रम वर का है मेरा भी तप थोड़ा सा।
इसके अर्द्धभाग से अपनी मनोकामना पूरी कर;
किन्तु मुझे बतला तो किसको करना चहती है तू वर ॥

५१

उस द्विज ने आश्रम के भीतर आकर इस प्रकार भाखा;
गिरितनया परन्तु लज्जा-वश कह न सकी निज अभिलाषा
अपने कज्जल-हीन विलोचन उसने के रञ्च ऊँचे कर,
वहाँ पासवाली आली को अवलोका, इस अवसर पर ॥

५२

बोली सखी शैलतनया की हे द्विज ब्रह्मचर्य्य-धारी !
यदि सुनना चहता है, सुन तू इसकी व्यथा-कथा सारी।
धूप न लगे इसलिए कोई कमल-पत्र ताने जैसे,
कहती हूँ क्यों तप का साधक इसने गात किया तैसे ॥

५३

वरुण, कुबेर और सुरनायक, धर्मराज प्रभुताशाली—
कुछ न समझ इन दिकपालों को यह मम मानवती आली
काम-नाश करने के कारण जिन्हें न मोहे सुघराई,
ऐसे शिव को किया चाहती है अपना पति सुखदायी ॥

५४

अति दुर्धर्ष त्रिलोचन तक जो नहीं पहुँच पाये उस काल;
उनके 'हूँ' करते ही पीछे फिरना पड़ा जिन्हें तत्काल।
मूर्ति-हीन भी मकरध्वज के वे ही महा विलक्षण बाण,
बड़े वेग से इसके उर में प्रविशे देकर दुःख महान ॥

५५

तब से यह निज पिता-सदन में व्यथा काम की सहती थी;
अलकों को ललाट-चन्दन से मले हुए ही रहती थी।
विमल बर्फ़ की भी अति शीतल सुखद शिलाओं के ऊपर,
सच कहती हूँ, इस बाला को चैन न पड़ती थी क्षण भर

५६

किन्नर-कन्याओं को लेकर शम्भु-चरित जब गाती थी,
तब यह आँखों से आँसू की अविरल धार बहाती थी।
अनमिल स्वर गद्गद वाणी से दुःख विशेष बढ़ाती थी;
गान-समय की सखियों को भी अपने साथ रुलाती थी॥

५७

तीन पहर निशि गत होने पर यदि कुछ निद्रा आती थी;
तो, फिर, इसकी आँख तनिक में अकस्मात खुल जाती थी
मनही मन श्रीकण्ठ-कण्ठ में बाँह डाल सुख पाती थी,
"हे हर! कहाँ चले?"—यह कह कर, चौंक चौंक अकुलाती थी

५८

"बड़े बड़े विद्वज्जन तुमको कहते हैं अन्तर्यामी,
फिर, क्यों नहीं जान लेते हो मेरा मनोऽभीष्ट स्वामी"?
अपने ही कर से शङ्कर का चित्र बनाय हृदयहारी,
उनका उपालम्भ करती थी, इसी भाँति यह सुकुमारी॥

५९

उनके मिलने की जब इसको मिली न और युक्ति कोई,
ढूँढ़ ढूँढ़ कर हार गई यह, बहुत अवधि इसने खोई।
पाय पिता की अनुमति तब, तज माता तथा सगा भाई,
हम सबको ले, यह तप करने यहाँ तपोवन में आई॥

६०

तप के साक्षी तरुवर इसने जितने यहाँ लगाये हैं,
उन सब में, इस समय, देखिए, फूल और फल छाये हैं।

किन्तु चन्द्रशेखर-सम्बन्धी इसकी अभिलाषा सुखकर,
अंकुर-युत भी नहीं हुई है, सच कहती हूँ हे द्विजवर !

६१

तप से अतिशय कृश यह इसकी देह न देखी जाती है;
सखियों के नयनों से जल की धारा वह वह आती है।
जुती हुई जलती धरती पर सुरपति सम, वे दुर्लभ हर,
नहीं जानती कब होवेंगे दयावान इसके ऊपर ॥

६२

शैल-किशोरी का मन पाकर कुछ न सखी ने किया दुराव,
उस साधू को साफ़ साफ़ यों सुना दिया सारा सद्भाव।
सुन उसने पूछा गिरिजा से, बिना किये ही हर्ष-प्रकाश,
क्या यह सच कहती है, अथवा करती है मुझसे परिहास ?

६३

इस प्रकार का प्रश्न श्रवण कर वह तापसी शैल-बाला,
पाणि-सरोरुह की मुट्ठी में धारण किये स्फटिक-माला।
"क्या उत्तर दूँ ?"—यही देर तक रही सोचती मनही मन,
किसी भाँति सङ्कोच छोड़ कर, बोली, फिर, ये अल्प वचन

६४

हे वेदज्ञ शिरोमणि ! इसने सत्य बात बतलाई है;
दुर्लभ पद पाने की इच्छा मेरे मन में आई है।
इसी लिए इस तप-साधन में मैंने चित्त लगाया है;
मनोरथों की सीमा का भी अन्त किसी ने पाया है ?

६५

बोला चतुर ब्रह्मचारी तब, हाँ मुझको हैं विदित महेश ;
फिर भी तू उनके पाने की इच्छा रखती है सविशेष !
किन्तु, कदापि नहीं दे सकता तुझको निज अनुमोदन-दान ॥
क्योंकि, जानता हूँ मैं उनको महा-अमङ्गल-मूल-निधान ॥

६६

तुच्छ वस्तु की अभिलाषा में तुझको रत मैं पाता हूँ;
तेरी रुचि-विचित्रता को मैं सोच सोच पछताता हूँ।
क्योंकर, पहले ही, तेरा कर कङ्कण से शोभित होकर,
सहन कर सकेगा सर्पों से लिपटा हुआ शम्भु का कर

६७

कहाँ वधू का वस्त्र मनोहर अति विचित्र पीला पीला ?
कहाँ रुधिर टपके है जिससे वह गजराज-चर्म गीला ?
तूही समझ देख निज मन में कि यह बात क्या कहता है;
इन दोनों का साथ सुन्दरी ! कभी उचित हो सकता है

६८

अम्बुज बिछे हुए आँगन में जो पद सदा पधारे हैं ;
वहीं जिन्होंने मञ्जु महावर से स्वचिह्न चितारे हैं।
बिखरे केश मसान-भूमि में वेही आवें जावेंगे;
मैं क्या, इसे शत्रु भी तेरे कभी न युक्त बतावेंगे !

६९

भूतनाथ का यदि आलिङ्गन तुझे मिला भी सुकुमारी !
तू ही बता और क्या होगा इससे अधिक हानिकारी ?
हरिचन्दन के योग्य कुचों को तू अति मलिन बनावेगी,
क्योंकि, चिता का भस्म निरन्तर उनमें लग लग जावेगी

७०

हे गिरिजे ! उत्तम गजेन्द्र के ऊपर होने योग्य सवार !
शुभ विवाह के पीछे तुझको वृद्ध बैल पर चढ़ा निहार
सोहेगा प्रशस्त पुरुषों के मुख में मन्द मन्द मुसक्यान ;
देख आदिही में यह होगी तव विडम्बना महा महान ॥

७१

उस भुजङ्ग-भूषण से सङ्गति होने का कर विनय-विधान,
शोचनीय गति को पहुँची हैं ये दोनोंही, सांचो जान।

एक चन्द्रमा की चटकीली कला मनोहरता की खान;
    विश्व-विलोचन-मोद-दायिनी दूजी तू सौन्दर्य निधान ॥

७२

तन कुरूप, दृग तीन विलक्षण, तथा जन्म का भी न ठिकान,
    देह-दिगम्बरता से धन का होना है पूरा अनुमान।
मृगनयनी! वर में जितने गुण देखे जाते हैं सविशेष,
    उनमें से त्रिनयन में सचमुच नहीं एक का भी लव-लेश ॥

७३

यह अनुचित अभिलाषा मन से बाहर कर हे सुकुमारि!
    सुभग-मूर्त्ति सुन्दरी कहाँ तू? कहाँ अमङ्गल त्रिपुरारि?
यज्ञ-यूप* की वैदिक विधि से जो पूजा की जाती है,
    वध-सूचक मसान की सूली उसे क्या कभी पाती है?

७४

उस द्विज ने इस भाँति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा,
    कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा ॥
खींच भाल के ऊपर भौंहें अति विशाल काली काली,
    उसने टेढ़ी की निज आँखें कोनों में लाली लाली ॥

७५

कहने लगी कि तू शङ्कर को नहीं भली विधि जाने है,
    इसीलिए ही उनको मुझसे तू इस भाँति बखाने है।
सत् पुरुषों के चरित अलौकिक मूर्ख बुरा बतलाते हैं,
    क्योंकि चरित्र-हेतु ही उनकी नहीं समझ में आते हैं ॥

७६

विपति-नाश अथवा सम्पति का सुख जो सदा मनाते हैं,
    वेही मङ्गल-मयी वस्तु के सेवक देखे जाते हैं।

---

* यूप = पशु बाँधने का खम्भा।

६६

तुच्छ वस्तु की अभिलाषा में तुझको रत मैं पाता हूँ;
तेरी रुचि-विचित्रता को मैं सोच सोच पछताता हूँ।
क्योंकर, पहले ही, तेरा कर कङ्कण से शोभित होकर,
सहन कर सकेगा सर्पों से लिपटा हुआ शम्भु का कर

६७

कहाँ वधू का वस्त्र मनोहर अति विचित्र पीला पीला?
कहाँ रुधिर टपके है जिससे वह गजराज-चर्म गीला?
तूही समझ देख निज मन में कि यह बात क्या कहता है;
इन दोनों का साथ सुन्दरी! कभी उचित हो सकता है

६८

अम्बुज बिछे हुए आँगन में जो पद सदा पधारे हैं,
वहाँ जिन्होंने मञ्जु महावर से स्वचिह्न विस्तारे हैं।
बिखरे केश मसान-भूमि में वेही आवें जावेंगे;
मैं क्या, इसे शत्रु भी तेरे कभी न युक्त बतावेंगे!

६९

भूतनाथ का यदि आलिङ्गन तुझे मिला भी सुकुमारी!
तू ही बता और क्या होगा इससे अधिक हानिकारी?
हरिचन्दन के योग्य कुचों को तू अति मलिन बनावेगी;
क्योंकि, चिता का भस्म निरन्तर उनमें लग लग जावेगी

७०

हे गिरिजे! उत्तम गजेन्द्र के ऊपर होने योग्य सवार!
शुभ विवाह के पीछे तुझको वृद्ध बैल पर चढ़ा निहार
सोहेगा प्रशस्त पुरुषों के मुख में मन्द मन्द मुसक्यान;
देख आदिही में यह होगी तव विडम्बना महा महान॥

७१

उस भुजङ्ग-भूषण से सङ्गति होने का कर विनय-विधान,
शोचनीय गति को पहुँची हैं ये दोनोंही, सांची जान।

एक चन्द्रमा की चटकीली कला मनोहरता की खान;
विश्व-विलोचन-मोद-दायिनी दूजी तू सौन्दर्य निधान॥

७२

तन कुरूप, दृग तीन विलक्षण, तथा जन्म का भी न ठिकान,
देह-दिगम्बरता से धन का होना है पूरा अनुमान।
मृगनयनी! वर में जितने गुण देखे जाते हैं सविशेष,
उनमें से त्रिनयन में सचमुच नहीं एक का भी लव-लेश॥

७३

यह अनुचित अभिलाषा मन से बाहर कर हे सुकुमारी!
सुभग-मूर्त्ति सुन्दरी कहाँ तू? कहाँ अमङ्गल त्रिपुरारी?
यज्ञ-यूप* की वैदिक विधि से जो पूजा की जाती है,
वध-सूचक मसान की सूली उसे क्या कभी पाती है?

७४

उस द्विज ने इस भाँति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा,
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा॥
खींच भाल के ऊपर भौंहें अति विशाल काली काली,
उसने टेढ़ी की निज आँखें कोनों में लाली लाली॥

७५

कहने लगी कि तू शङ्कर को नहीं भली विधि जाने है,
इसीलिए ही उनको मुझसे तू इस भाँति बखाने है।
सत् पुरुषों के चरित अलौकिक मूर्ख बुरा बतलाते हैं,
क्योंकि चरित्र-हेतु ही उनकी नहीं समझ में आते हैं॥

७६

विपति-नाश अथवा सम्पति का सुख जो सदा मनाते हैं,
वेही मङ्गल-मयी वस्तु के सेवक देखे जाते हैं।

---

* यूप = पशु बाँधने का खम्भा।

जिनकी शरण विश्व, बुध जिनको निरभिलाष बतलाते हैं,
आशा से दूषित पदार्थ ये उनको नहीं लुभाते हैं ॥

७७

यदपि निर्धनी, तदपि सभी धन जन्म उन्हीं से पाते हैं;
लोकनाथ होकर मसान में वे नित रहने जाते हैं।
भीम भेष धारण करके भी शिव सदैव कहलाते हैं;
शशि-शेखर के पूरे ज्ञाता त्रिभुवन में न दिखाते हैं ॥

७८

आभूषण से भूषित; अथवा, भय-दायक-भुजङ्ग-धारी;
गज का चर्म्म लिये हैं; अथवा. मृदुल दुकूल मनोहारी
ब्रह्म-कपाल युक्त हैं; अथवा चन्द्रचूड़ हैं भगवाना;
विश्वमूर्ति उस विश्वेश्वर का मर्म नहीं जाता जाना ॥

७९

उस जगदीश्वर के शरीर से वह ज्योंही छू जाती है,
त्योंही रज अपवित्र चिता की अति पवित्र हो जाती है
नृत्य-समय, गिर कर उसके कण, भूतल पर जो आते हैं,
दिव्यदेवता उन्हें भाल पर सादर सदा लगाते हैं ॥

८०

जो सुरपति प्रमत्त दिग्गज के ऊपर आता जाता है;
धन-विहीन उस वृष-वाहन को वह भी शीश नवाता है
उसके चरण-सरोरुह पर वह अपना मुकुट झुकाता है,
मृदु-मन्दार-पराग-पुञ्ज से उँगली अरुण बनाता है ॥

८१

व्यर्थ दोष कहने की इच्छा तुझ में यदपि समाई है;
एक बात शङ्कर-सम्बन्धी तूने सत्य सुनाई है।
ब्रह्मा का भी कारण जिनको बतलाते हैं विज्ञानी,
कैसे जान सकेगा उनका उद्भव तू हे अज्ञानी ॥

८२

तूने जैसा उन्हें सुना है वैसा होने दे निःशेष,
करना नहीं चाहती हूँ मैं तुझसे वाद-विवाद विशेष।
मैं इनमें अनुरक्त एकही सरस भाव से भले प्रकार;
स्वेच्छाचारी जन कलङ्क का करते नहीं कदापि विचार

८३

सखी! रोक यह फिर कहने की उत्सुकता दिखलाता है;
देख अधर अपना ऊपर का बार बार फड़काता है।
सत्पुरुषों का निन्दक जन ही पातक नहीं कमाता है;
निन्दा का सुननेवाला भी अघ-भागी हो जाता है॥

८४

यह कह कर कि यहाँ से मैं ही उठ जाऊँगी, वह बाला
उठी सवेग, कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड़ लिया निज कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर

८५

उनको देख, कम्पयुत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिये हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता तुल्य नितान्त
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी, हुई चित्र खींचीसी भ्रान्त॥

८६

"हे नत-गात्रि! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान;
मोल ले लिया तूने तप से"—यों जब बोले शम्भु सुजान
तत्क्षण हुआ शैल-तनया के प्रबल परिश्रम का परिहार;
क्लेश समूल भूल जाता है फल मिलने पर मनोऽनुसार

८७

रायबरेली के अन्तर्गत सुरसरि-तट दौलतपुर ग्राम,
श्रीहनुमन्त-तनय जिसमें थे रामसहाय द्विवेदी नाम।
उनके एकमात्र सुत मैंने यह कुमारसम्भव का सार,
अबके कवियों को प्रणाम कर किया यथामति किसी प्रकार ॥

इति